## 1937G Corruption in Sanskrit and Prakrit Usage

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

वैसे तो, आधुनिक शिक्षण पद्धति ही शिक्षा के ढंग से बिलकुल प्रतिकूल है, जिससे न तो वास्तविक ज्ञान ही होता है, और न पढ़ने वालों का नैतिक सुधार ही होता है। उसमें भी, जैन समाज की, खास कर संस्कृत शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं की शिक्षा प्रणाली तो इतनी बिगड़ी हुई है, कि जिससे प्रतिवर्ष अनेकों विद्वानों के तैयार होते हुए भी, अभी तक समग्र जैन समाज में मुश्किल से १० विद्वान् व्युत्पन्न एवं अध्यवसाय शील न मिल सकेंगे। जब कि लगातार १०-१० वर्ष तक संस्कृत का अभ्यास करते हुए, एवं १०-१० वर्ष से समाज की शिक्षा संस्थाओं में कार्य करते हुए भी नामधारी विद्वानों के एक जरा से प्रश्न पत्र में भी "कति सम्यग्दर्शनिर" जैसी अशुद्धियां हो सकती हैं, तब समग्र संस्कृत भाषा ज्ञान के विषय में तो कहना ही क्या है। अस्तु। ऐसी अवस्था में हमारी समाज में, खास कर दिगम्बर सम्प्रदाय में प्राकृत भाषा-ज्ञान का तो एक दम अभाव ही है। इस विषय की ओर न तो शिक्षा संस्थाओं का ही ध्यान आकर्षित हुआ है, और न समाज के अन्य प्रमुख व्यक्तियों का; जो प्रति वर्ष सैकड़ों रुपयों अंग्रेजी एवं संस्कृत का अध्ययन करने वाले छात्रों को छात्र वृत्तियों के रूप में दिया करते हैं। जब कि हमारे सिद्धान्त ग्रन्थ- धवल महाधवल, गोम्मटसार, त्रिलोकसारादि प्राकृत भाषा में ही बने हुए अपनी अक्षुण्ण प्राचीनता का परिचय दे रहे हैं। यदि जैनियों की सर्व प्रथम कोई भाषा है, तो प्राकृत ही है, यहां तक, कि हमारे प्रतिदिन काम में आने वाली पूजनें तक भी प्राकृत भाषा में हैं।

इतना सब कुछ होते हुए भी अभी तक हमारा ध्यान प्राकृत भाषा के पठन-पाठन की ओर नहीं गया है- जिससे, प्राकृत की पूजनों में, पाठ्य ग्रन्थों में, एवं स्वाध्याय ग्रन्थों में बड़ी २ अशुद्धियां दिखाई दे रही हैं। जिससे कहीं २ पर तो अर्थ तक भी उलट हो जाता है। उदाहरण के लिए हम नीचे कुछ पाठ उपस्थित करते हैं, जिन से हमको प्राकृत भाषा की कमी का पूर्ण अनुभव हो जाये- और भविष्य में इसके लिए कोई नवीन योजना हो सके।

"जे वड्ढहिं देह-थिरत्तचित्त।" (१) देव शास्त्र गुरु की संस्कृत प्राकृत पूजन की गुरु जयमाला का- "जे रायरोसभयमोहचिन्ता" यह पाठ लिखित या मुद्रित सब ही ढंग की पुस्तकों में इसी ही उक्त रूप में दिखाई पड़ रहा है। एक बार पर्युषण में समाज-प्रसिद्ध एक शास्त्री जी के साथ उक्त पूजन को करते हुए उक्त पाठ को सुना तो आश्चर्य हुआ- बीच में टोककर मैंने पूछा, शास्त्री जी, इस उक्त पाठ का क्या अर्थ है, अब क्या था, शास्त्री जी चक्कर में आ गए- करीब १० मिनट तक अगाध ज्ञान प्रयोग करने पर भी ठीक अर्थ न बैठा सके, तो झुंझला कर बोले, हम तुम्हारे साथ तो पूजन ही न करेंगे- तुम बीच २ में बातें करने लगते हो- इत्यादि सदुपदेश देते हुए-

झट पाट तो उठाकर दूसरी वेदी पर चले गए। जब समाज प्रतिष्ठ-शास्त्रियों का पूजन के अभिमान में पड़ रहे हैं, तो हमारी भोली-एवं संस्कृत-प्राकृत अनभिज्ञ जैन जनजनता उनका यथार्थ समझती होगी। अस्तु।

पाठक, उक्त पद के ऊपर ही विचार करें — यदि तुक बन्दी की दृष्टि से "जे रायरोसभयमोहचित्ता" इस पाठ को ठीक माना जावे, तो इसका यह अर्थ निकलता है, कि "जो गुरु राग, रोष, भय और मोह से युक्त चित्त वाले ~~गुरु~~ हैं" जो कि ठीक जैन गुरु से भिन्न — कुगुरुओं का विधायक अर्थ हो जाता है। अतएव उक्त पाठ अशुद्ध है और उसके स्थान पर "जे रागरोस-भयमोहचत्त" ऐसा पाठ होना चाहिए। क्योंकि "चत्त" इस प्राकृत पद की संस्कृत में छाया "त्यक्त" इस रूप में होती है, जिससे उक्त पद का अर्थ ठीक बैठ जाता है कि "जो गुरु राग रोष भय और मोह से रहित हैं"।

यह तो हुई पूजन सम्बन्धी बात। अब जरा पाठ्य ग्रन्थों की भी अशुद्धियों का भी दिग्दर्शन कीजिए —

(२) गोम्मटसार कर्मकांड के बन्ध उदय सत्वाधिकार के बन्ध प्रकरण की १०४वीं गाथा का पाठ भी इसी प्रकार अशुद्ध दिखाई दे रहा है। जो कि अशुद्धि के रूप में ही रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित प्रथम व द्वितीय बार के गोम्मटसार कर्मकांड में, जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से प्रकाशित गो० कर्मकांड की बड़ी (संस्कृत-हिन्दी वाली) टीकाओं, एवं अनेकों लिखित प्रतियों में इसी रूप में दिखाई दे रहा है — हम नहीं कह सकते कि हमारी समाज में प्राकृत भाषा का ज्ञान उठ जाने से कितने पहिले से यह पाठ अशुद्ध हो गया है — वह गाथा इस प्रकार है —

तिय उणवीसं छत्तिय तालं तेवण्ण सत्तवण्णं च।
इगिदुग सट्ठी विरहिय सय तिय उणवीस सहिय वीससयं॥१०४॥

उक्त गाथा के वर्तमान पाठ को देखते हुए इस प्रकार अर्थ निकलता है — मिथ्यादृष्टि आदिक चौदह गुणस्थानों में क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, एवं ३, १९ सहित १२० अथवा ३ सहित, १९ सहित, और २० सहित १०० अर्थात् १०३, ११९, व १२० प्रकृतियों का अबन्ध है। उक्त दोनों ही प्रकार के अर्थ उक्त पाठ की दृष्टि से ~~निकलने वाले अर्थ~~ अशुद्ध हैं। ~~क्योंकि~~ संस्कृत टीकाकार श्री केशववर्णी ने, ~~श्री पं०~~ हिन्दी टीकाकार श्री पं० टोडरमलजी ने इस प्रकार अर्थ निकाला है — कि मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, एवं ११९ तीन जगह और १२० प्रकृतियों का अबन्ध होता है। और वास्तव में ~~यही~~ गुणस्थान सम्बन्धी, बन्ध संख्या और बन्ध व्युच्छित्ति संख्या को देखते हुए यही अर्थ ठीक बैठता है।

अतएव उक्त अर्थ को देखते हुए तीनों ही जगह मुद्रित पाठ अशुद्ध है। क्योंकि उक्त पाठ से जो अर्थ निकाला गया है, वह निकलता ही नहीं है। वास्तव में पाठ इस प्रकार होना चाहिए —

तिय उणवीसं छत्तियपणं तेवण्ण सत्तवण्णं च।
इगदुग सट्ठी विरहिय, तियसय उणवीस सयाति वीससयं ॥२०४॥

इस पाठ के अनुसार उक्त अर्थ भी ठीक बैठ जाता है कि मिथ्यात्वादि १४ गुणस्थानों में क्रम से ३, १९, ४६, ५३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, तीन बार ११९ रहित १०० अर्थात् ११९, ११९, ११९, और १२० का अबन्ध है। पाठक ही विचारें — उक्त दोनों पाठों में से कौन सा पाठ शुद्ध है?

इसी प्रकार आगे इसी ही कर्मकांड के स्थान समुत्कीर्तन नामक अधिकार की ५७७ वीं गाथा अशुद्ध है — क्योंकि संस्कृत टीकाकार, एवं भाषा टीकाकारों ने जो अर्थ किया है वह ~~उक्त~~ वर्तमान मुद्रित तीनों में से एवं लिखित ~~तीन~~ प्रतियों के ~~भी अशुद्ध ...~~ ~~वह पाठ इस प्रकार है~~ — से भी पाठ से भी वह अर्थ नहीं निकलता है। वह पाठ इस प्रकार है: —

इगि अड अट्ठिगि अट्ठिगि, भेदड अट्ठड दुणवय वीस तीसेक्कं।
अडिगिगि अडिगिगि विहि उण रिवगि इगि इगितीस देव चउ कम्सो ॥५७७॥

इस गाथा ~~...~~ में अप्रमत्त गुणस्थान सम्बन्धी नामकर्म के भुजाकार बन्धस्थान के भंग ४५ किस प्रकार बताये हैं, यह दिखलाया गया है। सो यदि उक्त गाथा को ही सामने रखकर अर्थ ~~किया जावे, तो इस प्रकार ...~~ उनका संस्कृत टीका व भाषा टीका के साथ मिलान किया जावे तो अर्थ ठीक नहीं बैठता है। ~~...~~ विचार करें। ~~...~~ इस प्रकार ~~...~~ है — नीचे की पंक्ति के १, ८, ८, २, ८, १, १, १, १, १, भंग कर सहित —

२८, २८, २८, २९, २९, ३०, ३१, ३१, ३१, ३१ प्रकृतिरूप स्थानों में, एवं ऊपर की पंक्ति के ८, १, १; ८, १, १; १, १, १, १ भंगों सहित ~~और विहि (द्वाभ्यां) से क्रमशः ...~~ २८, ३०, ३१, ३०, ३१, ३१ और देव सहित चार स्थानों को क्रम से बांधता है। ~~...~~ सो एक एक ऊपर की पंक्ति के स्थानभंगों को एक एक नीचे की पंक्ति के स्थानभंगों से गुणा करने से सब मिलकर ४५ भुजाकार भंग होते हैं।

गाथा के अनुसार विचार (मिलान) करने से अर्थ ठीक नहीं बैठता है — क्योंकि गाथा के उत्तरार्ध में "अडिगिगि के बाद विहि उण रिवगि इगि इगितीस देव चउ" ऐसा पाठ पड़ा हुआ है, सो पाठ के 'विहि' शब्द को और उसकी छाया 'द्वाभ्यां' को देखते हुए अर्थ निकलता है कि दो से कम तीस अर्थात् २८ प्रकृतिका स्थान। परन्तु ऊपर अर्थ किया गया है २९ प्रकृतिरूप स्थान जो परस्पर में विरुद्ध है। और भंगों पर दृष्टि रखते हुए २९ प्र० वाला स्थान ही होना चाहिए। यदि गाथा में पड़े हुए 'उण' पद से ही एक कम तीस अर्थात् २९ का अर्थ कर लिया जावे, तो विहि (द्वाभ्यां) पद व्यर्थ हो जाता है। इसलिए सिद्ध हुआ — कि उक्त मुद्रित पाठ अशुद्ध है।

इस पाठ से आगे के पाठ
इस ... पर और

अब उक्त गाथा के 'उण्णंसिगि' इस पाठ से आगे के पाठ 'इगिइगितीस' पर विचार (मिलान) करते हैं कि एगए अर्थ के साथ संगति नहीं बैठती है। क्योंकि उक्त पाठ के अनुसार ३०, ३१, ३१, ३१ ऐसा अर्थ निकलता है, जो कि ऊपर दिखाए गए गाथा के वास्तविक अर्थ से विरुद्ध सिद्ध होता है - क्योंकि टीकानुसार किए गए अर्थ '३० के बाद ३१ और उसके बाद ३० (कि ३१-३१') का अर्थ तो उक्त गाथा से निकलता ही नहीं है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि उक्त गाथा ही अशुद्ध है - जो कि लेखकों (नकल करने वालों) की कृपा से पता नहीं, किने पहले से अशुद्ध चली आ रही है - और उसकी नकल ही अशुद्ध की अशुद्ध संपादक महाशयों ने बिना कोई अर्थ का विचार किए छपा दी। वास्तव में गाथा और उसकी की गई संस्कृत छाया दोनों ही अशुद्ध हैं - सो अनुसार पाठक गण विचार करें।

शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिए।

गाथा- इगि अड अडिगि अडिगि, भेदउ अट्ठड दुगवय बीस तीसेहू।
अडिगिगि अडिगिगि विह उनरिवगि रिवगि इगितीस देयच उकमसो

और छाया जो छपी है वह भी अशुद्ध सो इस प्रकार होनी चाहिए:

छाया- एकमष्ट अष्टैकमष्टैकभेद मष्टाष्ट द्विकं च विंशतिः त्रिंशदेका
अष्टैकमेकमष्टैकैकं विध मेकोनरैक रैकैकत्रिंशत् देयचतुष्कं क्रमशः

अब इस विषय के जानने वाले विद्वान पाठक इस संशोधित एवं परिवर्धित गाथा के साथ [illegible] अर्थ को मिलान करें तो अर्थ बिना किसी कष्ट एवं खींचातानी के सरलता के साथ बैठ जायगा।

इसी प्रकार एक गाथा के दर्शन और कीजिए जिसमें अकेली में ही ४ अशुद्धियां हैं, वह है सर्वार्थसिद्धि अध्याय ९ के सूत्र नं० की टीका में उद्धृत की गई है - गाथा इस प्रकार है -

आकम्पिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्हं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवि ॥१॥

इस गाथा में आलोचना सम्बन्धी १० दोष गिनाए गए हैं, परन्तु उक्त पाठ के अनुसार ये १० नाम ठीक नहीं निकलते हैं - क्योंकि १० दोषों के नाम इस प्रकार हैं - १ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ बादर, ५ सूक्ष्म, ६ छन्न- (प्रच्छन्न) ७ शब्दाकुलित ८ बहुजन ९ अव्यक्त १० तत्सेवी ॥

यदि अशुद्ध गाथा के अनुसार अर्थ किया जावे - प्रारम्भ के ५ नाम तो ठीक निकल गए शेष के नाम - क्रम से ६ छण्हं को छायानुरूपी अर्थ 'षण्णां' छह का होता है। ७वां सद्दा अलग है छपा है जिसका छायानुरूपी अर्थ शब्द होता है - ८ उलयं अलग छपा है, ~~[illegible]~~ जिसका यथार्थ कोई अर्थ ही नहीं निकलता है। ९ अवत्त छपा है जिसका अर्थ अव्यक्त या अव्रात निकलता है

१० सासो ही छपा है जिसका अर्थ सासों ही निकलता है, सो ये सब गाथा के शब्दानुसार निकलने वाले अर्थ अशुद्ध हैं क्योंकि वास्तविक १० दोषों के नाम हम ऊपर दिखा चुके हैं अतएव ठीक पाठ इस प्रकार होना चाहिए। —

आकंपिअ, अणुमाणिअ, जं दिट्ठं बादरं च सुहुमं च।
छण्णं सद्दाउलयं बहुजण अव्वत्त तस्सेवी ॥ २॥

इस प्रकार पाठ के संशोधन करने से उक्त सब अशुद्धियां दूर हो जाती हैं, और १० दोष के नाम भी यथानुपूर्वी से ठीक निकल आते हैं। यदि सर्वार्थसिद्धि के संशोधक या सम्पादक महाशय प्राकृत सम्बन्धी थोड़ा सा भी ज्ञान रखते होते - या अन्य पाठों से मिलान करने का कष्ट उठाते तो - इस प्रकार एक ही गाथा में ४ अशुद्धियां नहीं नजर आतीं। अस्तु —

अब पाठक जरा स्वाध्याय ग्रन्थों की ओर दृष्टि डालें — जहां पर पाठ के पाठ अशुद्ध पड़े हैं, या जिनके अर्थ न समझ सकने के कारण छाया करने वाले महाशय शब्दों की छाया भी नहीं कर सके हैं — सो अधूरी ही छोड़ दी गई हैं — जिनमें से कुछ नमूने इस प्रकार हैं — कारंजा के चंद्र ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'सिद्धान्त सारादि संग्रह' नामक पुस्तक के अन्तर्गत झाणालोयणा की ४६ वीं गाथा को देखें

जोइ सी ण-३